

वर्तमान संस्थागत संगीत—शिक्षण—प्रणाली :

दशा और दिशा

सारांश

वर्तमान संगीत—शिक्षण प्रणाली की गुणवत्ता की समीक्षा करने के लिए हमें प्राचीन भारतीय संगीत और उसके उत्तरोत्तर विकास के क्रम में वर्तमान संगीत तक के काल को तुलनात्मक दृष्टि से देखना होगा। प्रायोगिक कला होने के नाते संगीत सदैव गुरु आश्रित विद्या रही है जिसे गुरुमुखी विद्या भी कहा जाता है। वर्ग, शाखा, समुदाय, सम्प्रदाय, बानियों, घरानों एवं संस्थागत शिक्षण आदि के रूप में यह गुरुमुखी विद्या गुरुकुल, आश्रम, अग्रहार, राज्याश्रय, विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालयों आदि शिक्षण—संस्थानों में प्रवाहमान होते हुए आज समाज के एक विस्तृत धरातल पर पहुंच गई है। समाज के निरन्तर विकास के साथ संगीत में भी नये-नये अनुसंधानों, मौलिक चिन्तन और वैज्ञानिकता के समावेश के कारण संगीत गुरुकुल से उच्च शिक्षण केन्द्रों में पहुंचा क्योंकि भारतीय संगीत के शिक्षण की प्रचलित घराना—पद्धति में संगीत के ज्ञान—विज्ञान की जो धारा घराने के ही कुछ गुरु—शिष्यों के बीच सीमित हो गई और गुरु की कला का मात्र अन्धानुकरण ही आवश्यक धर्म माना जाने लगा, इससे संगीत में नई प्रतिभाओं और सृजनशीलता के विकास की हानि का जो बड़ा भारी नुकसान समाज को भुगतना पड़ रहा था, उसे महसूस करते हुए पं. विष्णुद्वय जैसे विद्वानों ने संगीत के शिक्षण को घराने के सीमित दायरे से बाहर निकालकर उसे शिक्षण संस्थानों में सर्वसुलभ करवाया। आज संस्थानों में यद्यपि नई-नई प्रतिभाएं खुले चिन्तन, एवं विस्तृत सोच के साथ सामने आ रही हैं किन्तु देखा जाये तो घरानेगत शिक्षण की गुणवत्ता को अपनी दृष्टि एवं परिकल्पना में रखते हुए हम जिस सार्थक शिक्षण—प्रणाली को संस्थाओं में व्यवहार में लाना चाह रहे हैं वह देखा जाये तो ऐसे परिणाम नहीं दे पा रही है जिससे संगीत—विषय की निपुणता के साथ नये सृजन एवं नये शैक्षिक उत्कर्ष के साथ प्रतिभाओं का विकास हो रहा हो। देखा जाये तो इन अकादमिक संस्थाओं में न हम सही अकादमिक पैदा कर पा रहे, जो संगीत की शास्त्रीय, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक आदि व्याख्याओं के विस्तृत विश्लेषण के साथ संगीत के प्रायोगिक एवं तकनीकी पक्षों को भी समान रूप से निपुणता के साथ प्रस्तुत कर सकें, इस शिक्षा में हम शास्त्र को साध रहे हैं तो प्रयोग छूटता है एवं प्रयोग को साधते हैं तो उसमें ही उलझ कर रह जाते हैं क्योंकि वह तो जन्म—जन्मान्तर की साधना है, अतएव आज उस संगीत की खोज आवश्यक हो गई है, जो हमें सार्थकता एवं समुचित दिशा प्रदान कर सके।



मधु भट्ट तैलंग

एसोसिएट प्रोफेसर,
संगीत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

मुख्य शब्द: संगीत शिक्षण—पद्धति, गुरुकुल अथवा घरानेदार एवं संस्थागत शिक्षण, समीक्षात्मक विवेचन एवं विश्लेषण, आदर्श—शिक्षण प्रणाली, गुणीजन — विचार।

पस्तावना

प्राचीन से लेकर वर्तमान तक के संगीत की समीक्षा की जाये तो विष्णुद्वय के विशिष्ट प्रयासों से उन्होंने जिस संगीत के स्वरूप को शिक्षण संस्थानों में सर्वग्राह्य बनाया था उसमें भी गुरु—शिष्य—परम्परा के तत्वों एवं उसकी आत्मा को समाविष्ट किया था क्योंकि गुरु—शिष्य परम्परा की सुदीर्घ, प्रगाढ़ एवं आत्मिक संबंधों पर आधृत शिक्षा भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्राचीनता को परिपुष्ट करती है, उसे प्रामाणिकता के साथ सुरक्षित व अनुमोदित भो करती है। 'घराना' ऐसा शब्द है, जिसकी जड़े संगीत—धरा पर गहरी जमी हुई हैं। खानदानी, परम्परागत अथवा घरानेगत कलाकार होना ही मानो श्रेष्ठता

का स्वयं प्रमाण पत्र बन जाता है। 'घरानावाद' गुरुकुल-पद्धति का ही अविच्छिन्न प्रवाह है, जिसे आज भी सर्वाधिक महत्ता, सम्मानजनक एवं अनुकरणीय माना जाता है। गुरु-शिष्य के मध्य शिक्षा का आत्मिक प्रवाह ही भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है, जो अन्यत्र नहीं दिखाई देता।

18वीं शताब्दी के अन्त से लेकर 20वीं शताब्दी का काल भारतीय संगीत शिक्षा के पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण का काल माना जाता है क्योंकि मुगल-साम्राज्य के काल में कला के विलासिता एवं मनोरंजन का साधन माने जाने के कारण उसके उचित प्रशिक्षण पर कमजोर दिया गया दूसरी ओर मुगलकाल के अन्तिम समय में ब्रिटिशकाल के आविर्भाव के समय में मुगल बादशाहों द्वारा कलाकारों को संरक्षण न प्राप्त होने की स्थिति में एवं सरकारी संरक्षण की उदासीनता के कारण घरानेदारी संगीत को संरक्षित करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। घर से इतर प्रतिभावान शिष्य के खर्च को वहन न कर सकने के कारण घरानेदार कलाकारों ने अपने परिवार में ही उस परम्परा को प्रवाहमान किया। इन घरानों के मध्य श्रेष्ठता की प्रतिस्पर्धा ने ही अनेक मौलिकताओं एवं गुणवत्ता को जन्म दिया, जिसके कारण अलग-अलग विशेषणों से अलंकृत होते हुए अपनी निजी स्थापनाओं के कारण अलग-अलग घराने पैदा हुए, जो वर्तमान में अप्राप्त हैं किन्तु इन घरानों का लाभ प्रतिभावान विद्यार्थियों को प्राप्त होने की आवश्यकता के कारण ही संस्थागत शिक्षा का उदय हुआ। सर्वप्रथम बड़ौदा के स्व. मौलाबख्श घिस्से द्वारा 1886 ई. में प्रतिस्थापित 'बड़ौदा स्टेट म्यूजिक स्कूल' नामक विद्यालय में सामने आया, जबकि संगीत-शिक्षा घराने के लोगों से निकलकर समाज के खुले धरातल पर आई और उसे आन्दोलन का रूप दिया 'विष्णुद्वय' ने। सन् 1901 में लाहौर में 'गांधर्व महाविद्यालय' की स्थापना हुई और उसमें प्राचीन गुरुकुल प्रणाली और आधुनिक संस्थागत शिक्षण प्रणाली का अद्भुत समन्वय, पुरुष और स्त्री सभी के लिए संगीत-शिक्षा की सुलभता, एवं नोटेशन पद्धति द्वारा घरानेगत बंदिशों की सर्वसुलभता एवं संगीत के प्रायोगिक पक्ष के साथ-साथ संगीत-परिषदों के आयोजन द्वारा उसके शास्त्रीय पक्ष को भी समक्ष रखते हुए उन गंभीर चर्चाओं को पुस्तक का प्रारूप देकर संगीत के विकास के रास्ते चारों ओर से खोलने आदि विष्णुद्वय के प्रयासों को संगीत के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है। सन् 1929 से पूर्व संगीत शिक्षण-संस्थाओं में विषय के रूप में मान्य नहीं था, उसे इन तपस्वियों के प्रयासों से प्राइमरी शिक्षा में अनिवार्य एवं वैकल्पिक विषय के रूप में एवं 1952-53 में माध्यमिक विद्यालयों में अन्य विषयों के साथ संगीत विषय को भी 'माध्यमिक शिक्षा आयोग' की सिफारिश पर सम्मिलित कर लिया गया।

शोध का उद्देश्य

भारतीय शास्त्रीय संगीत के अभ्यास, साधना, शिक्षण और प्रशिक्षण की दक्षता पूर्णतः प्रायोगिकता पर आधारित है। चूंकि वह शास्त्रीय है और उसमें शास्त्र समाहित है अतएव उसके सिद्धान्त को हम नहीं छोड़

सकते, उसका गहन अध्ययन भी प्रायोगिकता की भांति अवश्यंभावी है, अतएव संगीत के गायन अथवा वादन को अंगीकार करने वाले साधक के लिए यह मुश्किल होता है कि वह उसमें संतुलन कैसे बैठाये? ऐसे साधकों को मार्गदर्शन और सही प्रक्रिया तक पहुंचाने वाले आधारभूत स्थान हैं - आजकल के विद्यालयीन शिक्षण केन्द्र और उसके शिक्षक, जो आज के परिप्रेक्ष्य में न पूर्णतः प्राचीन काल से चली आई गुरु-शिष्य परम्परा से संबद्ध हैं और न ही वर्तमान संस्थागत शिक्षण-प्रणाली के प्रमाणिक और मानकीकृत दक्ष शिक्षक, परिणामस्वरूप शास्त्र और प्रयोग की दोहरी नाव पर सवार ऐसे शिक्षक इस समय साध्य विधा की कठिन गहन साधना वाले प्रायोगिक पक्ष को छोड़ अपेक्षाकृत सरल मार्ग शास्त्र या सैद्धान्तिक पक्ष के अध्ययन को पूर्णतः पकड़ लेते हैं और संगीत का मुख्य उद्देश्य वहीं उनके हाथ से निकल जाता है जबकि संगीत का मुख्य उद्देश्य सिद्धान्त को सहायक बनाते हुए उसका मंचन ही है और शिक्षण का उद्देश्य भी विद्यार्थी को वहीं तक पहुंचाना होना चाहिये, जिसका वर्तमान में अभाव होता जा रहा है, वह मात्र फिर विद्यार्थी किसी गुरु के पास जाकर ही पूर्ण कर रहा है, शिक्षण केन्द्रों में नहीं। अतएव आज की संस्थागत शिक्षण-प्रणाली में पूर्णतः उद्देश्यहीन होती जा रही है, उसकी सोद्देश्य सार्थकता के श्रेयस्कर मार्गों की खोज करना और उसका समीक्षात्मक विश्लेषण करना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

सरकार एवं शिक्षाविदों के प्रयासों से संगीत विषय को माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषय के रूप में भी महत्व प्राप्त हुआ, धीरे-धीरे उसे उच्चतर माध्यमिक, स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं एवं पीएच.डी. उपाधि के अतिरिक्त विशेष व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के रूप में भी विश्वविद्यालयों में मान्यता मिली आज जो भी छोटे-बड़े शहरों में संगीत-संस्थाएं चल रही हैं, वहां क्रियान्वित सामूहिक शिक्षा की नींव 'विष्णुद्वय' के प्रयासों का ही प्रतिफल मानी जा सकती है, यही नहीं भारत की संगीत अकादमियां एवं संस्कृति विभाग भी छात्रवृत्तियों के तहत 'ध्रुवपद केन्द्र' आदि के संचालन द्वारा श्रेष्ठ गुरुओं के सानिध्य में प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को संगीत शिक्षा सुलभ कराता है। गुन्देचा बंधु एवं उदयभवालकर आदि इन्हीं की उपज हैं।

संस्थागत शिक्षण-संस्थाओं में कुछ संस्थाएं उल्लेखनीय रहीं -

1. 5वीं शताब्दी में तक्षशिला, काशी नालन्दा
2. 11-12वीं शताब्दी में विक्रम शिला
3. रामशंकर भट्टाचार्य के शिष्य क्षेत्र मोहन गोस्वामी द्वारा सन् 1871 में कलकत्ता में संगीत विद्यालय की स्थापना
4. सन् 1874 में भास्कर राव बखले द्वारा पूना में गायन समाज संस्था
5. सन् 1887 में बंबई में पारसियों द्वारा गाइनोतेजक मण्डल संस्था
6. सन् 1875 में पन्ना लाल गोसाईं द्वारा दिल्ली व बंगाल में 'सितार' संस्था

7. सन् 1886 में बड़ौदा नरेश सियाजी राव के सहयोग से मौला बरखा ने 'बालक गायन समाज' खोला, जिसे बाद में बड़ौदा स्टेट म्यूजिक कहा गया।
8. पं. भात खण्डे द्वारा 1918 में माधव संगीत महाविद्यालय, ग्वालियर
9. सन् 1920 में बड़ौदा में संगीत विद्यालय
10. 1925-26 में लखनऊ में मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक जिसे बाद में भातखण्डे संगीत महाविद्यालय (डीम्ड यूनिवर्सिटी) कहा गया।
11. पं. वि. दिगम्बर पलुस्कर द्वारा सन् 1901 में लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय एवं सन् 1931 में अखिल भारतीय महाविद्यालय मण्डल की स्थापना। पं. मोरेश्वर खरे व शंकर राव व्यास के नेतृत्व में, कालान्तर में विद्यालयों महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालयों में संगीताध्यापन एवं अनुसंधान किया जाने लगा। 20वीं शती के प्रारंभ से ही संगीत-विद्यालयों की स्थापना होने के साथ संगीत को माध्यमिक से लेकर परास्नातक तक पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया। कुछ संगीत के लिए बने संगीत केन्द्र रवीन्द्र भारती कलकत्ता एवं इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ आदि में गुरु-शिष्य के सानिध्य एवं तालीम पर जोर दिया गया है।

देखा जाये तो गुरु कला एवं घरानेगत शिक्षा में गुरु का सानिध्य पाने के लिए जिस प्रारंभिक परीक्षा द्वारा अपनी पात्रता का अनुमोदन करने के बाद गुरु-गृह म रहकर दिन-रात के कड़े अनुशासन में तालीम, अभ्यास, स्वाध्याय, गुरु-सुश्रुषा, समय-नियम एवं गुरुभक्ति आदि जैसे संस्कारित क्रियाकलापों के अनुपालन से तराशे हुए कुन्दन की भांति जब शिष्य गुरु की शिक्षा के मूर्तमान रूप में साकार होता था और गुरु के अनुमोदन अथवा अनुमति के बाद संगीत-जगत में मुखर होता था। गुरु द्वारा यह अनुशंसा ही श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र या डिग्री होती थी, गुरु ही विद्यार्थी का मुख्य परीक्षक होता था एवं गुरु की आज्ञा से वह मंचासीन होकर गुणियों द्वारा प्रशंसित होता था मानो गुरु स्वयं प्रमाण पत्र प्राप्त करता था जबकि संस्थागत शिक्षण के प्रारंभ काल में संरक्षण के अभाव में विद्यार्थी गुरु के पास चाहे नहीं रहता था किन्तु फिर भी राजाभैया 'पूछवाले', एस.एन. रातान्जनकर एवं पं. ओंकारनाथ ठाकुर आदि घरानेदार गुरुओं ने प्रवेश एवं परीक्षण में गुरुकुल के संस्कारों के समावेश का प्रयास किया था यही कारण रहा कि उस काल में शिक्षण-संस्थानों में अच्छे कलाकार भी निकले, उस काल में उच्च श्रेणी एवं अंक गुणवत्ता का पैमाना नहीं होता था अपितु उत्कृष्ट मंचीय प्रस्तुतियां ही श्रेष्ठता का आधार होती थी, धीरे-धीरे समाज के घटते नैतिक स्तर का प्रभाव संगीत जैसी कला पर भी पड़ा। पुराने एवं वर्तमान संगीत पर तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डालें तो निम्न बिन्दुओं पर दृष्टिपात किया जा सकता है -

संगीत का उद्देश्य ही आज तिरोहित हो गया है, यदि पुराने संगीत का उद्देश्य देखा जाये तो वह निम्नांकित बिन्दुओं पर आधृत था -

1. ईश्वरीय सत्ता की प्राप्ति की ओर अग्रसर आध्यात्मिक साधना एवं उससे सात्विक गुणों का विकास एवं नैतिक चरित्र एवं गुणों का विकास।
2. राग को देव स्वरूप मानते हुए उसकी सिद्धि।
3. सभ्य समाज की रचना
4. भोग की अपेक्षा यौगिक साधना
5. वर्तमान अर्थप्रधान, यश लिप्सा के दुराग्रह से दूर विशुद्ध ज्ञान लाभ एवं उसके वर्द्धन की पिपासा एवं कामना
6. भारतीय संस्कृति, मूल्यों एवं आदर्श की स्थापना।
7. व्यष्टि से समष्टि की साधना एवं सामाजिक सुख-दुख एवं हित का संधान।
8. मौलिक साधना, मौलिक सृजन, अमिश्रित विशुद्ध साधना।
9. स्वान्तः सुखाय, आत्मानन्द अथवा सच्चिदानन्द प्राप्ति
10. धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति। यही कारण रहा कि उस काल में वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक, नीतिशास्त्रों, रामायण एवं महाभारत आदि धार्मिक ग्रन्थों की रचनाएं प्राप्त हैं, इस काल के बाद इस स्तर की रचनाएं अप्राप्त हैं, इन कृतियां ने संगीत को भी सुदृढ़ सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान किया।
11. वर्तमान मात्र परीक्षा वैतरिणी प्राप्त कर आजीविकापूर्ति एवं डिग्री प्राप्त करने की प्राथमिकता से दूर मात्र कलाकार पैदा करना। आज जो भी कारण बताये जायें कि वर्तमान व्यवस्थाओं से कलाकार विद्यार्थी पैदा नहीं हो सकते किन्तु यह भी सच है कि सैकड़ों विद्यार्थियों में से जब कोई कलाकार प्रतिभा पैदा होती है तो हम उन सभी विद्यार्थियों की अपेक्षा उसी का ही उदाहरण पेश करते हैं एवं उसी में हमें आत्मसंतोष प्राप्त होता है। आज हम स्वयं शिक्षक पं. जसराज एवं रविशंकर जी को जितनी इज्जत देते हैं क्या उतनी किसी वरिष्ठ शिक्षक को देते हैं? तो संगीत का उद्देश्य इससे स्वयं सिद्ध हो जाता है। तो क्या हमारा वर्तमान पाठ्यक्रम, हमारी नियुक्तियां, परीक्षण-प्रणाली एवं अन्य शैक्षणिक व्यवस्थाओं को निर्धारित करते वक्त इस उद्देश्य का ध्यान रखा जाता है? उत्तर नकारात्मक ही होगा। बकौल पं. शिव कुमार शर्मा 'अकादमियों से सीखकर कोई परफॉर्मिंग आर्टिस्ट नहीं बन सकता। परफॉर्मिंग आर्टिस्ट बनने की ललक रखने वालों को तो गुरु-शिष्य-परम्परा से ही संगीत-साधना करनी चाहिये। अकादमियों में जाकर तो क्लासरूम टीचिंग हो ली जा सकती है, यही वजह है कि मैंने अकादमी स्थापित करने की कोशिश ही नहीं की' (दैनिक भास्कर का अतिरिक्त अंक, सिटी भास्कर, दिनांक 24 फरवरी 2014 के मुख्य पृष्ठ से उद्धृत)

गुरुकुल-पद्धति की संगीत-शिक्षा की प्रकृति, ढंग अथवा प्रणाली पर संक्षिप्त दृष्टि डालें तो एक बहुत बड़ा तत्व जो आज समाहित हो गया वह है 'अर्थ' जिसमें संगीत-शिक्षा के स्वरूप को ही मानो कुरूप कर दिया, गुरु जहां पहले शिष्य का प्रारंभिक परीक्षण कर अपने आश्रय में उसे लेता था एवं स्वयं शिष्य एवं उसके

परिवारजन भो अपनी रूचि, ईश्वरीयगुण, पात्रता संस्कार, व्यवहार एवं उसके गुरुत्व आदि का चिंतन कर गुरु का चयन कर उसे स्वयं को समर्पित करते थे, उसमें अर्थ मानक नहीं होता था कि विद्यार्थी कितना पैसा देगा या गुरु कैसे वाला होगा? दूसरा अथोपार्जन की प्रवृत्ति ने संगीत विषय को समय की सीमा में बांध लिया, संस्थाओं में सप्ताह के 14-16 कालांशों में संगीत-शिक्षा को सीमित कर दिया गया, आजीविकोपार्जन एवं तनखाह प्राप्ति हेतु कार्य करना आदि व्यवस्थाओं में संगीत की गहनता एवं विस्तार कैसे समाये?

पहले माता-पिता गुरु के पास अपने बच्चे को यह कह कर सौंपते थे कि हाड़ मांस हमारा, बूटी आपकी, यानि, उसका लालन-पालन, संस्कार, ज्ञान का सिंचन अब आपके हवाले। यहां तक माता-पिता गुरु के हवाले कर बच्चे को भूल जाते थे, यह भी अपेक्षा नहीं करते थे कि कब तैयार होगा एवं हमें अर्थ कमा कर देगा? गुरु का ध्यान भी अर्थ लाभ से दूर उसे अपनी अनुकृति बनाने पर लगा होता था। अर्थ से परे इस तरह के आत्मीय समर्पण से जो गुरुशिष्य के प्रगाढ़ संबंध एवं ज्ञान का निर्मलप्रवाह दोनों के मध्य संचारित होता था, वह आज दुर्लभ हो चुका है।

गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली

गुरु-शिष्य-परम्परा में सुयोग्य गुरु के सानिध्य में सुपात्र शिष्य लगभग 5 से 10 वर्ष की उम्र में गुरुगृह में रहकर शिक्षण प्रारंभ करता है।

1. दूसरा गले के गुणधर्म के अनुसार भी गुरु का चयन व उसकाशिक्षण प्रारंभ होता है। शिष्य के चयन में गायनानुकूल आवाज़, रूचि, लगन, ध्यान, कल्पनाशीलता, अनकरण-कुशलता, नैतिकगुण, सुव्यवहार, गुरुभक्ति एवं श्रद्धा, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य आदि का ध्यान रखा जाता है।
2. आवाज के गुण-धर्म के अनुसार आधार स्वर, पिच एवं 'काला'-निर्धारण अनुरूप विद्या दी जाती है।
3. प्रातःकाल में मन्द्र या षड्ज साधना के बाद दिन के चढ़ाव के साथ अन्य सप्तकों का क्रम बढ़ाया जाता है। गले की सहजता एवं अनावश्यक प्रयास से दूर आवाज को संस्कारित किया जाता है। स्वर-साधना में उम्र के अनुसार एवं ग्रहणशीलता के अनुसार सरलता-कठिनता का भी ध्यान रखा जाता है। स्वर-साधना में आकार खुला हुआ एवं शब्द स्वर के विशुद्ध उच्चारण अथवा लगाव पर ध्यान दिया जाता है।
4. चालीस दिन के चिल्ले का भी क्रम घरानों में देखा जाता है। डागर घराने की तालीम तदनुसार है।
5. पहले शुद्ध स्वर के सपाट-सरल सम्पूर्ण जाति के अलंकारों का रियाज, फिर स्वर छोड़कर षाडव-औडव आदि जाति में भी रियाज किया जाता है। शुद्ध के बाद एक-एक कोमल स्वर के समावेश एवं थाटानुसार भी पलटों का रियाज समयानुसार किया जाता है, गौरतलब है कि गुरुकुल में समयवधि सीमित नहीं है।

6. इस प्रकार इस साधना से आवाज में स्थैर्य, गूँज, माधुर्य, ठहराव, नियंत्रण एवं स्वर की पकड़, पहिचान एवं सृजनशीलता विकसित होती है। अलंकारों के निर्माण में एक, दो, तीन आदि विभिन्न मात्राओं की स्वरसंरचना को हाथ से ताल देकर विविध तालों के साथ स्वराभ्यास कराया जाता है, जैसे दादरे में सारेग रेगम, झपताल में सारे, सारेग, दीपचन्दी में सरेग, सरेगम आदि, इससे विद्यार्थियों को ताल व स्वर की सम्मिलित जानकारी के साथ लयकारी का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

7. स्वरसाधना के बाद शुद्ध स्वरों की एवं एकादि विकृत स्वर के मिश्रण की ओडव अथवासंपूर्ण जाति की रागों भूपाली, बिलावल, यमन, भैरवआदि रागों की सरगमें सिखाई जाती है, एवं रागों को नियमानुसार गाना प्रारंभिक स्तर पर बच्चे के लिए नीरस हो जाता है जिससे बच्चे साधना से दूर भी हो जाते हैं इसलिए सरगम के साथ लक्षण गीत भी सिखाते हैं जिससे विद्यार्थी राग के स्वरूप को सरलता से ग्रहण कर लेता है तदनन्तर छोटी-छोटी सरल बन्दिशों से कठिन बन्दिशों का क्रम चलता है। पहले खाली व भरी से बन्दिशों का उठान होता है, पकड़ बनने पर बन्दिशों का उठान किसी भी मात्रा से उठाय जा सकता है। एक राग में अनेक बन्दिशें अनेक तालों में सिखाई जाती हैं जिससे राग के स्वरूप को अच्छी तरह से जाना जा सके एवं अनेक तालों पर भी पकड़ बन सके। क्योंकि बन्दिशें राग के बंधन में बंधी होकर राग का आइना होती है। पहले बन्दिश में छोटे-छोटे आलाप-तानों का निर्माण किया जाता है जिसमें राग के प्रमुख न्यास स्वर एवं उत्तरार्द्ध, पूर्वार्द्ध, अल्पत्व-बहुत्व आदि का ध्यान रखा जाता है एवं राग के अलंकरणों कण, मींड, खटके, मुर्की, गमक, छूट, श्रुति आन्दोलन आदि का सरलता से कठिनता की ओर उन्मुख होकर तालीम व अभ्यास किया जाता है। रस व भाव की भी व्याख्या एवं विश्लेषण इस तालीम का अहम् अंग होता है। यद्यपि गले के गुण धर्म के अनुसार आवाज में कुछ ईश्वरीय प्रदत्त गुण भी होते हैं जिसका राग की शास्त्रीयता के अनुरूप उचित प्रयोग गुरु के सानिध्य से ही प्राप्त होता है। विख्यात गायक लक्ष्मण कृष्ण राव शंकर पंडित के अनुसार- "स्वर का लगाव, बंदिश का प्रस्तुतीकरण, राग की शुद्धता, उसका व्याकरण और कलात्मक विकास, आकार का सही रूप, तानों के विविध बोलबांट एवं लय की सूक्ष्मता आदि बातों में गुरु का मार्गदर्शन ही शिष्य का पथ-प्रदर्शक होता है। शिष्य की भक्ति, शक्ति और युक्ति से ही संगीत की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं"।¹

संगीत का व्याकरण माने जाने वाली ध्रुवपद गायकी के डागर घराने में आकार, डागर, ध्रुन, मुरन, गमक, कम्पित, आन्दोलन, लहक, हुडक, लाग डाट आदि अलंकरणों को साधने पर बल दिया गया है, जिससे स्वर के समस्त सौन्दर्यात्मक अलंकरणों की सिद्धि स्वतः हो जाती है, ऐसी मान्यता है। इस घराने में आलाप की गहन

एवं विस्तृत साधना में मानों स्वर के सूक्ष्मतर स्वरूप की साधना के साथ विविध स्वरक्रमभेद मेरुखण्ड आदि द्वारा राग में स्वर की अनन्त संभावनाओं के रास्ते खोल दिये जाते हैं। प्राचीन स्वस्थान नियमों, रागालाप एवं रूपकालाप का स्वरूप, स्थाई, अन्तरा से चारी एवं आभोग के रूप में विविध बोलबांट एवं लयबांट एवं लयभेदों में आलाप साकार होता है, यही क्रम ध्रुवपद गायकी के प्रबंध 'बन्दिश' गायन में भी अनुसृत होता है एवं उत्कृष्ट संस्कृतनिष्ठ ब्रज एवं अवधि आदि भाषा में 8 से 16 पंक्तियों तक की चार तुकों की विस्तृत पद रचना में मानो राग मूर्तमान हो जाती है इसलिए पुराने समय में किसी भी गायन व वादन विधा की तालीम से पूर्व ध्रुवपद शैली की तालीम को आदर्श माना गया, स्वयं हरिप्रसाद चौरसिया, श्रीमती गंगूबाई हंगल, पं. भीमसेन जोशी, उ. अमजद अली खां जैसे कलाकारों की तालीम का सिलसिला यही रहा है। मेरे पिता व गुरु पं. लक्ष्मण भट्ट तैलंग कहते हैं कि ध्रुवपद गायकी में शब्दानुरूप व रागानुरूप रससृष्टि एवं प्राचीन यौगिक साधना का स्वरूप डागर घराने की ध्रुवपद गायकी में साकार होता है इसीलिए इस घराने में नाभि हृदय, कण्ठ, नासिका, अनुनासिका स्वरानुरणन आदि पर विस्तृत काम होता है। उन्होंने उ. हाफिज अली खां जी से रूद्रवीणा की गंडाबन्ध तालीम भी ली थी। पं. जी बताते हैं कि उ.हाफिज अली कहते थे कि पहले सौ ध्रुवपद याद हों, तभी कलाकार साज़ उठाये एवं अन्य शैलियाँ अपनाये। ख्याल के विद्वान् गायक पं. राजाभैया 'पूछवाले' ने सर्वप्रथम बामनबुवा की शिष्यता ग्रहण कर ध्रुवपद गायकी की कला प्राप्त की थी, बाद में उनके बड़े लड़के लाला बुवा से भी शिक्षा प्राप्त की थी। 'स्वर, राग, ताल और गायन के साथ भाव और भाषा सहित लय में शब्दों की गति जानने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से ध्रुवपद की विधिवत् शिक्षा को उन्होंने आवश्यक बताया है।'

एक महत्वपूर्ण चीज और है कि घराने में तानपुरे पर ही तालीम व साधना करवाई जाती है इसलिए गायन से पूर्व तानपुरा मिलाना शिष्य को सिखाया जाता है, घराने में तानपुरा बजाना भी एक कला मानी गई है। वे उसे बजाना नहीं अपितु छेड़ना कहते हैं। परदों का सहारा ले लेने से हारमोनियम के साथ साधना घरानों में वर्जित माना जाता है एवं हारमोनियम में मीड़, श्रुति एवं आन्दोलन आदि सम्भावनाओं के न होने से भी राग-साधना में हारमोनियम का आश्रय लेना परिहार्य माना गया है।

घरानेगत साधना में 'एकै साधे सब सधे' उक्ति के अनुसार एक राग के साथ अनेक समप्राकृतिक रागों की तालीम भी गहन तालीम का महत्वपूर्ण अंग होती है।

घरानेगत शिक्षा में गुरु स्वयं अपने गायन के साथ शिष्य को तबला अथवा पखावज संगति का भी अवसर देता है जिससे विद्यार्थी को ताल का ज्ञान एवं उसमें स्वच्छन्द विचरण करना स्वतः आ जाता है।

उपरोक्त प्रणाली पर दृष्टिपात करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि संगीत-शिक्षा में निपुणता प्राप्त करने के लिए जिस धैर्य, संयम, अनुशासन, लगन, परिश्रम, तपस्या एवं पर्याप्त समय की अपेक्षा होती है वह दिखिखया, सिखिखया एवं परिखिखया उक्ति के अनुसार

संचालित घरानेदार शिक्षण पद्धति से ही संभव है वह आज निश्चित कालांश, निश्चित पाठ्यक्रम, अथोपार्जन एवं डिग्री के उद्देश्य पर टिकी शिक्षण-पद्धति एवं उससे निर्मित शिक्षकों एवं विद्यार्थियों दोनों के द्वारा नितान्त असंभव है। विद्यालय स्तर पर संगीत विषय का अभाव एवं महाविद्यालय से प्रारम्भ संगीत की डिग्री आधारित पास कोर्स एवं व्यावसायिक कोर्स में भी उपरोक्त स्वर-ताल की गहन साधना एवं निपुणता की कल्पना कैसे की जा सकती है?

यही कारण है कि विश्वविद्यालय स्तर के शिक्षकों के पास न उचित एवं पर्याप्त राग-ज्ञान है, तानपुरा – तबले आदि के मिलाने व उसके अनुरूप गायन की पकड़ है, पाठ्यक्रम में सम्मिलित सभी रागों की उनके पास जानकारी नहीं है, वे शास्त्रीय संगीत के प्रस्तोता भी नहीं हैं, एक बन्दिश के अलावा अन्य बन्दिशों उनके पास नहीं हैं, उसी बन्दिश एवं आलाप-तानों को तोते की तरह से रटा एवं लिखा देते हैं। यहां तक की एक ही बन्दिश अलग-अलग ढंग से सिखायी जा रही है एवं बन्दिश की स्वरलिपि एवं बोल तक भिन्न दिखाई देते हैं। एक कक्षा के विद्यार्थी को चार-चार शिक्षक पढ़ाते हैं तो फिर उचित शैली व ढंग का निर्माण कैसे संभव हो, वह भ्रम ही पैदा करता है। गुरुकुल में मात्र एक संगीत की ही साधना होता है किन्तु संस्थागत शिक्षा में ऐच्छिक विषय के रूप में अन्य विषयों के साथ संगीत को साधना एवं उसमें निपुणता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है। शिक्षण-संस्थानों में स्त्री-पुरुष दोनों को एक ही पिच अथवा काले से शिक्षण प्रदान करने के कारण आवाज़ का सही लगाव व बनाव संभव नहीं हो पाता, जो कि घरानों में प्राथमिकता के साथ साधा जाता है, आज सभी विद्यार्थियों को पाठ्यक्रमान्तर्गत सभी संगीत-शैलियों की तालीम लेनी पड़ती है चाहे उस शैली के अनुरूप उनके गले का गुणधर्म न भी हो अतएव विद्यार्थी संस्था में अपनी प्रतिभा का उचित विकास नहीं कर पाता। डिग्री के अनुसार शिक्षा देना एवं लेना स्वयं शिष्य एवं गुरु दोनों का उद्देश्य रह गया है, मौलिक चिन्तन नहीं, एवं नया सृजन नहीं आदि-आदि खामियों के रहते हम आज संस्थागत संगीत-शिक्षण के किस स्तर की बात करें?

प्रसिद्ध इतिहासकार एवं संगीतकार प्रोफेसर मुकुन्द लाट के अनुसार "पत्थर पर रस्सी घिसने से पड़े निशान के अनुसार निरंतर अभ्यास करने से जड़मति के सुजान होने के उदाहरण को वह लकीर का फकीर मानते हैं जबकि उनके अनुसार शिक्षा वह है जो नियम में बंधकर भी हमें स्वतंत्र करें, यथा शास्त्र के नियम में बंध कर हम नये-नये आलाप-तानों, स्वरसंवादों, बन्दिशों, लयकारियों, स्वर-तालबन्धों एवं रागों की रचना करते हैं, जो कि घरानेदार तालीम में दिखाई देती है। घराने के नियमों में बंधकर भी घराने के कलाकार अपने मौलिक विशेषणों का सृजन कर परम्परा का निर्माण करते हैं। यह संस्थागत शिक्षा में नितान्त गायब होता जा रहा है।"³

यद्यपि आज संगीत शिक्षण-प्रशिक्षण का दायरा विस्तृत हुआ है। इंटरनेट, विविध रिकॉर्डिंग, सी डी, डी वी डी, इन्टरनेट, स्काइप, स्वरलिपिबद्ध पुस्तकों में उपलब्ध

आलाप, तान बन्दिशें," टी वी-रेडियो, प्रोजेक्टर आदि में उपलब्ध विविध संगीत-शिक्षण कार्यक्रम, इसे घर बैठे दूरस्थ शिक्षा के रूप में संगीत सीखने की क्रान्ति के रूप में देखा जा रहा है किन्तु लेखिका क्षमा चाहती है संगीत की गहनता एवं विस्तार से वह कोसों दूर है, वह सीना-ब-सीना तालीम से ही संभव है, कमियों का निस्तारण मात्र गुरु का सानिध्य ही कर सकता है अतएव ज़रूरी है कि आज गुरुकुल व संस्थागत शिक्षण की मध्यस्थ संभावनाओं की खोज और उसे व्यवहार में लाने की। यद्यपि संस्थागत शिक्षण की वर्तमान अनेक खामियों के साथ अनेक गुण भी इंगित किये जा सकते हैं –

1. घरानेगत शिक्षा में जहां शिष्य को गुरु का अन्धानुकरण करना होता था ऐसे में आवाज के दोष नाक से गाना आदि भी शामिल हो जाता था, संस्थागत शिक्षा में इसका बंधन नहीं है।
2. पहले गुरु लिखने व शास्त्रीय पक्ष की व्याख्या आदि से दूर थे इस कारण पुरानी बन्दिशें आदि उन गुरुओं के साथ ही खत्म हो गई किन्तु संस्था में स्वरलिपि लेखनादि द्वारा ये बहुमूल्य बन्दिशें आज भी लिखित रूप में प्राप्त हो रही हैं।
3. संस्थागत पाठ्यक्रम में अनेक रागों व अनेक शैलियों को रखा जाता है जहां घरानों में चंद रागों व एक ही शैली का संधान किया जाता है जबकि संस्थागत शिक्षण में अनेक रागों व शैलियों की जानकारी मिल जाती है जिससे शिक्षण से इतर एक प्रतिभाशील विद्यार्थी अन्य शैलियों की खूबसूरतियों से अपने को निखार सकता है एवं अनेक रागों की जानकारी से अपनी रचनाधर्मिता की अभिवृद्धि भी कर सकता है। संस्थाओं में परम्परागत से लेकर कन्टैम्पेरी अर्थात् समसामयिक संगीत एवं एप्लाइड म्यूजिक अथवा व्यावहारिक संगीत को जानने का अवसर भी प्राप्त होता है एवं हमारी दृष्टि और खुलती है।
4. संस्थागत शिक्षण में हम सभी घरानों की चीजों की खूबसूरतियों को प्रतिभा के बल पर अंगीकार कर सकते हैं, जो कि घरानों की प्रतिबद्धता के रहते असंभव है।
5. संस्थागत शिक्षण में आज के आर्थिक युग में अनेक व्यावसायिक क्षेत्रों में भी संभावनाएं बढ़ गई हैं यथा – गायक, वादक अथवा नर्तक बनना संगीत-रचनाकार, संगीत-निर्देशक, म्यूजिक अरेन्जर, म्यूजिकइवेंट मैनेजर, रिकॉर्डिस्ट अथवा स्टूडियो-निर्माण, पैक्स, कॉम्पेयरर, लेखक, संपादक, समीक्षक, शिक्षक बनना, संस्था-निर्माण, प्ले बैक सिंगर व वादक, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया व चैनल से संबंधित अनेक संगीत-कार्य, वृन्द गायन-वादन वेबसाइट बनाना, इतिहासकार, थैरेपिस्ट, संगीत-प्रवचनकार साजमेकर, साज सुधारक, वाद्य कैसेट विक्रेता, विज्ञापन एवं जिंगल निर्माण आदि-आदि। प्रसार-प्रसार माध्यम से जुड़ने के कारण आज संगीत इंटरनेट, स्काइप, कैसेटों, वीडियो एवं पुस्तकों के माध्यम से दूरस्थ शिक्षा के रूप में एक क्रान्तिकारी रूप में सामने आया है आज

विदेश में बैठा आदमी अपने मन चाहे उस्ताद से घर बैठे शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यही मार्गदर्शन प्राप्त होता है कि समसामयिकता के मद्देनजर हमें हमारे संगीत को प्रासंगिक बनाना होगा किन्तु संगीत के सभी रास्ते संगीत की श्रेष्ठ तालीम व साधना एवं उसकी निपुणता अथवा दक्षता प्राप्त करने के बाद ही खुल पायेंगे अन्यथा हम अधकचरे रह जायेंगे अतएव आवश्यकता है हमारी आदर्श संगीत शिक्षा प्रणाली माने जाने वाली घरानेगत शिक्षा एवं वर्तमान संस्थागत शिक्षण प्रणाली के मध्यस्थ सार्थक रास्ते की खोज की।

संगीत-विदुषी डॉ. प्रेमलता के शब्दों में – 'जिस कला को पाने के लिए ये कलाकार बहुत कठिन परिश्रम करते हैं, साधना करते हैं, पूजा करते हैं, उसी कला का हास उनके सामने हो रहा है और ये मौन-साधक बने देखते रहे, तो संगीत-शिक्षा का उद्देश्य कितना ही सात्विक और आदर्श क्यों न हो, उसे कोई सफलता नहीं मिल सकती, केवल एक ही उद्देश्य रह जायेगा – डिग्री प्राप्त करना। विनाश की ओर जो रही इस कला को ये कला-उपासक भी नहीं बचा सकते। पाठ्यक्रम सरल एवं संक्षेप में बनाया जाये, जिससे संस्थापकों एवं परीक्षकों को मनमानी करने का मौका न मिले और वे जाने-अनजाने छात्रों के भविष्य से भी न खेल सकें।'⁴

गुरुकुल अथवा घरानेदार एवं संस्थागत-शिक्षण प्रणाली के सामंजस्य की दृष्टि से कुछ गुणात्मक दिशानिर्देश निम्नांकित रूप में दृष्टव्य हैं –

1. यद्यपि आज रिफ्रेशर कोर्स आयोजित किये जा रहे हैं फिर भी आज उनकी सभी विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में संख्या नगण्य है अतएवं ऐसे प्रयास किये जायें कि श्रेष्ठ घरानेदार गुरुओं को अतिथि शिक्षक के रूप में बुलाकर विदेशों की भांति शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को प्रशिक्षित कराने का प्रावधान किया जाये। स्वयं घरानेदार कलाकार भी अपने स्तर पर संगीत-कार्यशालाओं का आयोजन कर संगीत साधक विद्यार्थियों व शिक्षकों को संगीत का आधारभूत व आवश्यक ज्ञान प्रदान करें, जो पाठ्यक्रम के लिए उपयोगी हो।
2. विश्वविद्यालय-महाविद्यालयों में विशेषज्ञता कोर्स भी हों एवं वहां विशेषज्ञ शिक्षकों की भी नियुक्ति हो, जिससे विद्यार्थी की पात्रता एवं गुणधर्म के अनुसार उनकी प्रतिभा का सही दिशा में विकास भी हो सके।
3. शिक्षकों की पदोन्नति भी संगीत के घरानेदार कलाकारों के पास समय-समय पर निर्धारित समयानुसार संगीत सीखकर एवं उसके परीक्षण के आधार पर हो क्योंकि आज सिर्फ शोध पत्रों के लेखन प्रकाशन एवं प्रोजेक्ट आदि से जुटाये ए पी आई स्कोर पर ही पदोन्नतियां निर्धारित की जा रही हैं। संगीत की बड़े समारोहों में प्रस्तुतियां अभी भी पदोन्नतियों हेतु प्राथमिकता से नहीं देखी जा रहीं।
4. सरकार एवं विश्वविद्यालय द्वारा प्रतिभाशील विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्रदान कर श्रेष्ठ गुरुओं के पास सीखने या फील्ड वर्क करने का प्रावधान भी

होना चाहिये, जिसका अंकों में भी फायदा मिलना चाहिये।

ग्वालियर घराने के शीर्षस्थ गुरु पं. लक्ष्मण कृष्ण राव शंकर पंडित के शब्दों में—

“परिस्थिति कितनी भी बदल गई है किन्तु यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि गुरु के सानिध्य म रहकर शिक्षा प्राप्त किये बिना उत्तम शिष्यों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि शिष्यों को गुणी गुरुओं से संगीत का ज्ञानप्राप्त न हुआ हो तो संगीत कला का पतन अवश्यभावी है। ‘पदार्थ चतुष्टय’ की दात्री संगीत कला को भावी पीढ़ियों के लिए तभी सुरक्षित रखा जा सकता है जबकि अनेक प्रतिभाशील शिष्य शुद्ध मन, तीव्र लगन और चरणों में अगाध श्रद्धा रखते हुए संगीत—साधना करें तथा गुरु भी संकीर्ण मनोवृत्ति एवं अर्थ व्यामोह को तिलांजलि देकर उन्मुक्त हृदय से शिक्षा—दान करें”¹

यह तो सर्वज्ञात है कि गुरु बिन ज्ञान नहीं अतएव संगीत जैसे गूढ़ विषय हेतु आवश्यक है कि अन्य विषयों से हटकर मात्र संगीत विषय को केन्द्रित कर गुरु का अधिक से अधिक सानिध्य प्राप्त हो। इसके लिए कहीं कहीं केवल संगीत—महाविद्यालयों की स्थापना की जाने लगी जैसे गोवा संगीत महाविद्यालय, पणजी (गोवा), धारवाड़ म्यूजिक कालेज एवं खैरागढ़ के इन्दिरा कला विश्वविद्यालय, भातखण्डे संगीत महाविद्यालय, लखनऊ आदि में ये प्रयास किये जा रहे हैं। पुणे विश्वविद्यालय में गुरुकुल—पद्धति का सीधा सा आविर्भाव करते हुए गुरुओं की सूची बनाई गई है, जिसमें गुरु का चयन कर विद्यार्थी उनके पास पाठ्यक्रम की रागें सीखने जाता है ऐसा प्रावधान किया गया है किन्तु यह व्यवस्था अन्य विश्वविद्यालयों में नहीं है अतएव उन्हें भी संगीत को व्यावसायिक विषय घोषित करके उसके अतिरिक्त शिक्षण—प्रशिक्षण की व्यवस्था एक गुरु के सानिध्य में की जानी चाहिये? एवं व्यावसायिक गुरु या शिक्षक की नियुक्ति भी उसके विकल्प के रूप में अतिरिक्त योग्यता मापदण्ड के आधार पर होनी चाहिये। संभव हो तो आज एम.ए. बी.ए. पास कोर्स या 6 वर्षीय व्यावसायिक पाठ्यक्रम में एक ही ऐसे शिक्षक द्वारा पढ़ाने का प्रावधान हो जो व्यावसायिक हो, न कि अलग—अलग शिक्षकों से पढ़ाय जाने का प्रावधान हो। जहां तक संभव हो स्त्री शिक्षक द्वारा लड़कियों व पुरुष शिक्षक द्वारा पुरुष विद्यार्थियों को सिखाने का प्रावधान हो।

1. संगीत को अन्य विषयों की तरह से एक विषय का दर्जा देने के कारण संगीत के उद्देश्य से हम तिरोहित हो गये — उसमें प्रवेश परीक्षा व परीक्षण प्रणाली एवं पाठ्यक्रम आदि एवं शिक्षकों की भी नियुक्तियां अन्य विषयों के समान की जाने लगी, अतएव संगीत की प्रकृति एवं उसकी आवश्यकता के अनुरूप ही विद्यार्थियों एवं शिक्षक दोनों के चयन में समझौता नहीं होना चाहिये। प्रयोग एवं शास्त्र दोनों के आधकृत शिक्षक का चयन आवश्यक है एवं विद्यार्थियों की संख्या कम हो एवं पाठ्यक्रम भी छोटा हो एवं उसमें क्वालिटी हो कई बार संख्या बढ़ोत्री के मद्देनजर हम बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को प्रवेश

देते हैं अतएव इससे न पाठ्यक्रम के साथ न्याय हो पाता है और न ही प्रतिभाशील विद्यार्थियों के साथ, ऐसी स्थिति में विस्तृत पाठ्यक्रम की कोई सार्थकता नहीं। सभी महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम आधारभूत से लेकर नैपुण्यता यानि सरल से कठिनता को देखते बनाये जायें। प्रथम द्वितीय वर्ष में मात्र आवाज़—संस्कार, अलंकार, सरगम, लक्षण गीत व सरल रागों एवं ताल पक्ष की विस्तृत व गहन तालीम हो जिसमें तराना, छोटे ख्याल व ध्रुवपद सिखाये जाये एवं छोटे—छोटे आलाप—ताने एवं प्रारंभिक स्तर पर शुद्ध स्वरो व औडुव—षाडव जाति की सरल रागें एवं क्रमशः एक—दो विकृत समावेश वाली भैरव, यमन आदि का समावेश हो, तृतीय वर्ष में आकर दुगुन—चौगुन सरल लयकारियां सिखायें जिसमें बड़े ख्याल, ध्रुवपद, तुमरी का मिश्रित प्रकृति छायालय व संकीर्ण रागों में समावेश हो एवं स्नातकोत्तर के प्रथम—द्वितीय वर्ष में रागों व उनमें समान्विष्ट रागों का मिश्रण किया जाये साथ ही विशेषज्ञों की नियुक्ति द्वारा विशेष आवाज़ गुणधर्म वाले विद्यार्थियों के लिए विशेषता वाले पाठ्यक्रम भी संचालित हों।

2. एक—दो सप्ताह में विद्यार्थियों के समक्ष शिक्षक का भी प्रदर्शन हो एवं साथ में विद्यार्थी का भी, जिससे विद्यार्थी मंचीय गुणों से अवगत होंगे।
3. विद्यार्थियों को गायन के साथ तानपुरा एवं तबला मिलाने एवं संगति की जानकारी भी देनी चाहिये।
4. सभी महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम समान होने चाहिये जिससे शिक्षित विद्यार्थी व शिक्षक कहीं भी समायोजित हो सकें।
5. संगीत के शास्त्रीय, वैज्ञानिक, दार्शनिक मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि अध्ययन के साथ एपलाइड, व्यावसायिक अथवा जोब ओरिएन्टेड समसामयिक आवश्यकता के मद्देनजर बनाया जाये किन्तु याद रहे कि संगीत का उद्देश्य प्राथमिक रूप से कलाकार बनना ही है अतएव इन पाठ्यक्रमों में इनका इतना संतुलित समावेश हो जिससे यह विषय मात्र वर्तमान में बहुतायक देखी जा रहे लेखन की प्रवृत्ति पर ही आश्रित न रह जायें।

संगीत के विशेषज्ञों को सम्मिलित प्रयास करके संगीत को ‘शिशु कक्षा या प्राइमरी एजुकेशन से जोड़ा जाये जिससे विद्यार्थी में श्रद्धा, अनुशासन, विनम्रता आदि नैतिक चरित्र व संस्कारों का निर्माण होना है एवं आधारभूत जानकारी के साथ आयु के अनुसार उचित शारीरिक व मानसिक विकास के साथ एक संगीतज्ञ का विकास संभव हो जायेगा। वर्तमान में महाविद्यालय स्तर ही विषय प्रारम्भ होने के कारण सीधे कठिनता को साधने के कारण प्रतिभा पलायन एवं हनन जैसे कृत्य सामने आते हैं। प्रतिभावान विद्यार्थी को विदेश की भांति शिशुकाल से संगीत विषय अपनाने की व्यवस्था अथवा पाठ्यक्रम हो।

1. महाविद्यालयों में अध्ययन के साथ गुरुओं के सानिध्य में रियाज की अतिरिक्त कक्षाओं का प्रावधान भी हो।

2. संगीत कक्षाओं में बंदिशों व राग स्वरूपादि के लेखन की व्यवस्था नहीं हो क्योंकि विद्यार्थियों की इससे कक्षा में नहीं आने की प्रवृत्ति पनप जाती है।
3. आज देखा जा रहा है पाठ्यक्रम में राग के आलाप, तान व बन्दिशों में नया पन नहीं है वही समान विषयवस्तु अनेक वर्षों से शिक्षक पढ़ा रहा है इससे विद्यार्थी में सृजनशीलता का निर्माण नहीं हो पा रहा बल्कि शिक्षक को नयी सृजन-शील रचनाओं, बन्दिशों व ताल के खेलों आदि द्वारा विषय के प्रति विद्यार्थी में रुचि एवं रचनाशीलता आदि का निर्माण करना चाहिये। मेरे गुरु व पिता पं. लक्ष्मण भट्ट तैलंग ने अनेक प्रयोगधर्मी रचनाओं का निर्माण इस उद्देश्य से किया जैसे – समान स्वर-साहित्य वाली रचना यथा – मां पानी परे (मां पानी पड़ रहा है) स्वर भी वही, साहित्य भी वही। विद्यार्थी को एक राग की अनेक बंदिशें उसके समप्राकृतिक फिल्मी व लोक संगीत आदि के उदाहरणों द्वारा राग के अध्ययन में रुचि व विस्तार पैदा करना चाहिये। हो सके तो प्रसिद्ध गायक-वादकों के भी नियमित रिकॉर्डिंग सुनाकर राग के विविध स्वरूप बताव का खुलासा करना चाहिये।

निष्कर्षतः हम प्राचीन से लेकर अधुना तक के संगीत-शिक्षण के गुणात्मक तत्वों के सम्मिश्रण से एक ऐसी सुगढ़ शिक्षण प्रणाली का निर्माण करें, जो विद्यार्थी के लिए सर्वथा उचित एवं ग्राह्य हो, जो विद्यार्थी के लिए सदैव प्रासंगिक एवं समुपयोगी हो। मतमतान्तर हो सकते हैं किन्तु विरोधाभास से ज़्यादा आज के संदर्भ में यह ज़रूरी है कि हम आज गर्त पर जा रहे संगीत-विषय के शिक्षण को पुनः प्रतिष्ठित, सम्माननीय व गौरवपूर्ण बनायें। मैं आदर्श रूप में पं. ओंकारनाथ ठाकुर, पं. राजाभैया पूछवाले, प्रो. एस.एन. रातानकर, डॉ. प्रभा आत्रे, डॉ. एन. राजमू आदि महानुभाव कलाकारों को उदाहरण रूप में देखती हूँ जिनके पास संस्थागत व घरानेगत दोनों प्रशिक्षणों का प्रसाद है, जो शास्त्र व प्रयोग के सुज्ञाता होने के साथ संगीत के हर क्षेत्र में अपना अग्रगण्य स्थान रखते हैं। आदर्श रूप में मैं संगीत के गुणीजन के उद्गार निष्कर्ष रूप में समक्ष रखूँगी।

आदर्श-शिक्षण प्रणाली के लिए कुछ गुणीजन के विचार अनुकरणीय हैं –

डॉ. सुमति मुटाटकर के अनुसार “ऐसी संस्थाओं का निर्माण अधिक होना चाहिये जहाँ उपाधि का अधिक महत्व न हो परन्तु विद्यार्थी को अध्यापक बनाने की नहीं, अपितु पूर्ण रूप से मंच-प्रदर्शक बनाने का प्रयत्न होना चाहिये।”

प्रत्येक विश्वविद्यालय में ललित कला संकाय का पूर्ण रूप से स्वतंत्र होना आवश्यक है, इतना ही नहीं अपितु छात्र और अध्यापक साथ-साथ रहे, ऐसी व्यवस्था हो तो अच्छा रहेगा। प्राध्यापक और विद्यार्थी को एक दूसरे के प्रेरक होना चाहिये। अच्छे शिक्षक को एक समझदार विद्यार्थी की आवश्यकता होती है और प्रयत्नशील तथा बुद्धिमान विद्यार्थी को एक परिश्रमी, चिन्तनशील शिक्षक की आवश्यकता होती है। इन दोनों की नींव पर ही

संगीत-विद्या का बड़ा मंदिर हो सकता है। गुरुजनों के सहवास का लाभ छात्रों को मिलना चाहिये। संगीत में गुरु-निष्ठा, गुरु सानिध्य, गुरुओं के चिन्तन-मनन का विद्यार्थियों पर प्रभाव आदि बातों से गुरुकुल प्रणाली जैसी शिक्षा विश्वविद्यालयों में भी संभव हो सकती है। संगीत की उच्चशिक्षा हेतु छात्रों को सरकार द्वारा जो छात्रवृत्ति दो या तीन साल के लिए दी जाती है उसकी अवधि बढ़ाकर 5 साल तक कर देनी चाहिये, जिसका लाभ विश्वविद्यालयों के अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को उचित मात्रा में मिल सके क्योंकि एक विशिष्ट गायकी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तथा स्तरीय मंच प्रदर्शन किया जा सके, इसके लिए कम से कम 5 साल का समय आवश्यक है।

प्रो. ना.वि. पटवर्धन का मत था – “संगीत शिक्षा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत ही परन्तु पृथक् होनी चाहिये, जिस प्रकार से चिकित्सा महाविद्यालय या अभियांत्रिकी महाविद्यालय पूर्णतः स्वतंत्र होते हैं उसी प्रकार संगीत-शिक्षा संस्था को भी स्वतंत्र होना आवश्यक है। संगीत शिक्षा स्वतंत्र होने से वहाँ की समय तालिका (Time Table) तथा अन्य सभी शिक्षा-विधि में अन्तर आ सकेगा। शिक्षक तथा विद्यार्थियों को परिश्रम प्रवृत्ति तथा त्याग भावना को अपनाना चाहिये। अधिक अवकाशों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये तभी संगीत की शिक्षा-विधि में अखण्डता आ सकेगी। इसप्रकार की संस्थाओं में संगीत के प्रत्येक पक्ष के विशेषज्ञ होने चाहिये जैसे चिकित्सा या अभियांत्रिकी महाविद्यालय में होते हैं, इससे एक ही संस्था में संगीत की शिक्षा में पूर्णता आ सकेगी।

प्रो. वी.आर. अठावले के अनुसार “संगीत की उच्च शिक्षा में समय का बन्धन नहीं होना चाहिये। पाठ्यक्रम में रागों की संख्या का बन्धन नहीं होना चाहिये। जब तक विद्यार्थी के गले से राग का स्वरूप बारीकियां सभी बातें स्पष्ट रूप से निकल सकें तब तक पाठ्यक्रम आगे बढ़ाने का कोई लाभ नहीं है। घरानेदार संगीत-शिक्षा पद्धति में गुरु-शिष्य को गाने का तंत्र-सिखाता था जिसके लिए समय का बंधन नहीं था।⁶

प्रो. एम.आर. गौतम के अनुसार “Institutionalised study of music may help produce good listeners in large numbers and perhaps a few outstanding performers, but this cannot help preserve the tradition of Indian classical Music, for this the younger generation must study under the masters. In this opinion, Universities can play an important and useful role in adining this by commissioning the services of those who have already made their marks as masters in different aspects of music-instrumental as well as vocal.”⁷

ग्वालियर घराने के गायक पं. शरदचन्द्र अरोलकर का कथन है कि “उच्च संगीत शिक्षण के लिए विश्वविद्यालयीय शिक्षण प्रणाली का विशेष उपयोग है ऐसा मुझे नहीं लगता। विश्वविद्यालय शिक्षा द्वारा विद्यार्थी संगीत का मात्र परिचय प्राप्त करते हैं, इस शिक्षा के पश्चात् विद्यार्थियों को योग्य कलाकार गुरु के सानिध्य में ही रहना आवश्यक है।”⁸

Periodic Research

डॉ. प्रभा आत्रे का कथन है – **On way of exposing students of Artists of repute is to invite them to teach during their least busy session for a month or two. Sometimes like an artist in residence scheme is therefore necessary. Normally no professional artists permits the presence of are one near him while he practises, but in an institution he may permit his student to wear him practice. Listening to a performer's riyaz would also help the students learn about how and what to practise to advise a certain skill in performance"⁹

पं. रविशंकर के अनुसार **Finally, I am greatly tempted to support whole heartedly the proposal to set up an all India body of musicians, musicologists and music teachers something after the pattern of Indian Science congress or Indian HistoryCongress. This body may meet at least once a year under the banner of a university to consider the state of music and music education in this country"¹⁰

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. 'संगीत मासिक पत्रिका' – संगीत कार्यालय, हाथरस के जून 2008 अंक में आलेख 'महाविद्यालयीन शिक्षण पद्धति में गुरुकुल पद्धति के अन्तर्भाव की सम्भावनाएं – ले. शशांक मक्तेदार, पृ. 11 से 13)
2. संगीत मणि-भाग-2, श्री भुवनेश्वरी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 92 से 95।
3. 'संगीत' मासिक पत्रिका, संगीत कार्यालय 'हाथरस से प्रकाशित के अंतर्गत आलेख 'संगीत शिक्षण की प्राचीन एवं अर्वाचीन शिक्षण-विधियां'—प्रो. अनिता शर्मा, पृ. 3 से 6।
4. सुरतार – लेखिका, डॉ. सुनीता कासलीवाल, कनिष्का पब्लिशर्स, 'संगीत शिक्षा में एप्लाइड म्यूजिक शामिल करने की आवश्यकता, पृ. 119-124।
5. निबन्ध संगीत – प्र. संगीत कार्यालय, हाथरस

6. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली – डॉ. सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, प्र. अभिषेक पब्लिकेशन, चण्डीगढ़-17।
7. 'संगीत' मासिक मई 2011, अंक – आलेख "विश्वविद्यालयीन संगीत का पाठ्यक्रम, दशा एवं दिशा", ले. सारिका, पृ. 3-19।
8. 'संगीत' मासिक सितम्बर 2011 अंक – आलेख – "संगीत शिक्षण के पतन के कारण और निवारण, ले. डॉ. अशोक कुमार 'यमन' एवं "आलेख बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संगीत शिक्षा पर वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव, पृ. 4 एवं पृ. 12।
9. संगीत विमर्श – ले. गौतम चटर्जी – अभिनव गुप्त अकादमी, वाराणसी, पृ. 285-286.

पाद टिप्पणी

1. हाथरस से प्रकाशित 'संगीत' मासिक पत्रिका के 'शिक्षा अंक पृ. 46 से उद्धृत।
2. ध्रुवपद समीक्षा-भरत व्यास पृ. 77 से उद्धृत।
3. झालाना संस्थानिक क्षेत्र के राज्य संदर्भ केन्द्र में 30 अप्रैल 1990 को आयोजित व्याख्यान से उद्धृत।
4. 'संगीत' मासिक, प्रकाशक- संगीत कार्यालय, हाथरस के संगीत शिक्षा अंक, पृ. 42 से उद्धृत।
5. 'संगीत' मासिक, प्रकाशक – संगीत कार्यालय, हाथरस के संगीत शिक्षा अंक, पृष्ठ 46 से उद्धृत।
6. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली – लेखक डॉ. सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, पृ. 324 से 333 से उद्धृत।
7. वही, पृ. 324 से 333 से उद्धृत।
8. वही, पृ. 324 से 333 से उद्धृत।
9. वही, पृ. 324 से 333 से उद्धृत।
10. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली- लेखक डॉ. सुरेश गोपाल श्रीखण्डे, पृ. 324 से 333 से उद्धृत।